आखर हिंदी पत्रिका e-ISSN-2583-0597 खंड 2/अंक 3/सितंबर 2022
Received: 13/09/2022; Accepted: 13/09/2022; Published: 24/09/2022

लेख

भारत में राष्ट्रीय अखण्डता: भाषायी समन्वय

- डॉ . दिविक रमेश
मो. 9910177099
divikramesh34@gmail.com

डॉ . दिविक रमेश, भारत में राष्ट्रीय अखण्डता: भाषायी समन्वय, आखर हिंदी पत्रिका, खंड2/अंक 3/सितंबर 2022,(224-236)

भारतीय अखण्डता:

मैं अपनी बात एक प्रश्न से ही शुरू करना चाहता हूँ। भारत के संदर्भ में उसकी अखण्डता या एकता का प्रश्न, रह रह कर, आशंका, खतरे या चिन्ता की शैली में क्यों उठाया जाता है। क्या इसकी अखण्डता सचमुच इतनी कमज़ोर बुनियाद पर टिकी है कि ज़रा से आघात से पूरी इमारत हिल जाए। क्या यह कुछ कुछ ऐसा ही नहीं लगता जैसे किसी पति-पत्नी का रिश्ता इतने कमज़ोर समझौते पर टिका हो कि ज़रा सा विवाद भी उसे तलाक की आशंका से भर दे। भारत और पूरे विश्व के परिदृश्य को देखें तो आशंका के एक दो कारणों की कल्पना की जा सकती है। एक तो भारत की विविधता उसका सच है। यहाँ अनेक पंथ हैं, सैंकड़ों बोलियाँ और भाषाएँ हैं, वेश-भूषाएँ हैं, खान-पान की अनेक आदतें हैं, नयन-नक्ष और रंग भी अनेक हैं, इत्यादि। आचरण, सोच, दर्शन और संस्कृति की भी कितनी ही शाखाएँ, उपशाखाएँ हैं। छोटी-बड़ी मिलाकर सत्ताकामी राजनीतिक पार्टियों का भी यहाँ अम्बार है। अर्थात् भारत में अनेक भेदक कारण मौजूद हैं। अतः आशंका क्यों नहीं। दूसरे, हाल ही में, विश्व स्तर पर सोवियत संघ को टूटते हुए देखा है। इधर पूरे विश्व में छाए हुए आतंकवादी संगठन भी ऐसी आशंका और चिन्ता के जनक कहे जा सकते हैं। तो भी? और यह तो भी कोई छोटा-मोटा प्रस्थान बिन्दु नहीं है। यहाँ अपने देष की संस्कृति, उसकी आत्मा की गहरी पहचान कर मुहम्मद इकबाल के शब्द सहज ही याद हो आते है:

यूनान मिश्र रोमाँ (रूमा) सब मिट गए जहाँ से
अब तक मगर है बाकी (बाकी बचा है अब तक) नामो निशाँ हमारा
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन दौरे-ए-जहाँ हमारा।

प्राचीन काल से ही भारत सिद्धांत 'आत्मनो मोक्षार्थम् जगत हिताय' अर्थात् अपने लिए मोक्ष और जगत के लिए कल्याण का रहा है। अपने से इतर का भी कल्याण चाहना और करना, पूरे विष्व को कुटुम्ब मानना हमारे राष्ट्र की आज तक की गौरवमय परम्परा हैः

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।

यहाँ के मानव का संकल्प है कि उसके कारण किसी को भी लेशमात्र कष्ट न हो।

हम मध्यकाल का ही अपना इतिहास देखें तो पाएँगे कि उस समय एक ओर हिन्दू-मुसलमान का सम्प्रदायवादी झगड़ा और दूसरी ओर निर्गुण सगुण का मसला और शैव शाक्तों आदि में बँटा (या बाँटा गया) समाज भारत था। हताशा-निराशा भी थी तो दक्षिण के आलवार संतों से लेकर उत्तर तक के संतों की आशाओं से भरी निर्भीक वाणियाँ भी थीं। और थीं कबीराना आत्मविश्लेषणात्मक फटकार भी। इस देश ने सत्ता की दृष्टि से राजाओं और नवाबों में बँटा भौगोलिक परिदृश्य भी भोगा है। और फिर टुकड़े-टुकड़ों में बँटे देश को, अंग्रेजों द्वारा प्रदत्त पराधीनता की बेड़ियों से, राश्ट्र (डॉ. फतेह सिंह के अनुसार राष्ट्र क शाब्दिक अर्थ रातियों का संगमस्थल है। राति का पर्यायवाची 'देन' है। अतः राष्ट्र में राष्ट्रजन अपनी अपनी 'राति' (देन) राष्ट्रभूमि को प्रदान करते हैं) की नई चेतना और उसकी नई संकल्पना से स्वयं को सम्पन्न कर, जूझते भी देखा है और स्वाधीन होते भी देखा है। हाँ देश के विभाजन के रूप में एक नासूर ज़रूर मिला। और यह विभाजन भी बार-बार जन्म लेने वाली उपर्युक्त आशंका का एक कारण कहा जा सकता है। खालिस्तान जैसे कभी कभार उभरने वाले नारे भी कुछ लोगों की चिन्ता का विषय बन जाते हैं। लेकिन इस सच्चाई से हम मुँह नहीं मोड़ सकते कि बावजूद कितनी ही भ्रामक, आततायी और प्रलोभनकारी खण्ड खण्ड कामी शक्तियों के हमारा भारत एक सुदृढ़ राष्ट्र के रूप में न केवल विकास के रास्ते पर है बल्कि विश्व के एक सक्षम नेता के रूप में भी सम्मान पाता जा रहा है। इसका कोई एक कारण ढूँढा जाए तो वह है इस राष्ट्र का आत्मा से ही समन्वयशील होना। हमारा राष्ट्र आत्मा से ही सेक्युलर है। इसे हम अपनी राष्ट्र भावना भी कह सकते हैं जिसका पूरा परिचय हमें स्वाधीनता के लिए जूझ रहे समय में मिलता है। हम व्यक्तिगत जीवन को महत्व देते हैं लेकिन राष्ट्र से ऊपर नहीं। राष्ट्र सुखी और सम्पन्न हो यही हमारा राष्ट्रीय चरित्र है। एक होने और रहने की अनुभूति हमारी राष्ट्रीय प्रकृति है। और यह भी कि हम बखूबी समझते हैं कि राष्ट्र का अर्थ केवल वहाँ के निवासी व्यक्ति ही नहीं बल्कि समस्त जीव-जगत है, पहाड़ और नदियाँ हैं, रेगिस्तान और समुद्र हैं, खेत और खलिहान हैं, गाँव और शहर हैं, सड़कें और राहे हैं, इत्यादि। तो कुल

मिलाकर कह सकते हैं कि भारत एक सुदृढ़ राष्ट्र है और वह इतना कमज़ोर नहीं कि अपनी अखण्डता के लिए सदैव आशंकित रहे, चिन्ताग्रस्त रहे। हाँ खण्डित करने की मंशा रखने वाली शक्तियों के प्रति असावधान भी नहीं रहना है शत्रु को हमेशा चतुर और सबल ही सोचना चाहिए। भारत की अस्मिता भले ही किसी की मोहताज क्यों न हो, पर इसके बने रहने के लिए हमें रोकथाम या बचाव के रास्ते तो सदैव खुले रखने पड़ेंगे। भारत की अखण्डता पर बार-बार चिन्तन करने का यही संदर्भ सार्थक है।

अखण्डता के मूलाधार बनाम योजक शक्तियाँ

भारत के संदर्भ में यदि हम गम्भीरता से विचार करें तो, एक राष्ट्र के रूप में, जो उसकी अखण्डता की योजक शक्तियों के रूप में मूल एवं प्रमुख आधार हैं, वही उसकी अखण्डता के लिए चुनौतियाँ भी हैं। इन्हें हम (क) सांस्कृतिक एकता, (ख) धार्मिक सद्भाव, (ग) भौगोलिक विविधताएँ एवं राष्ट्रीय सीमाएँ तथा (घ) भाषायी समन्वय के रूप में विभाजित कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त प्रजातीय अनेकता आदि बिन्दु भी हो सकते हैं। प्रारम्भ में ही हमें यह भी मान लेना चाहिए कि भारत राष्ट्र की अखण्डता उपर्युक्त तमाम आधारों के समान सहारे पर टिकी है। यह अलग बात है कि यहाँ हम उसके एक आधार 'भाषायी समन्वय' को केन्द्र में रखकर विशेष रूप से विचार करेंगे। वैसे अपनी सीमाओं में, क्षेत्रों के रूप में, जाने जाते भारत की अखण्डता के सर्वप्रमुख आधार के रूप में हम 'भाषायी समन्वय' को मान सकते हैं। हाँ, सिर्फ मान सकते हैं।

भारत में अनेक सांस्कृतिक अवधारणाएँ मिलती हैं। यहां विभिन्न धर्मों और प्रजातियों के आधार पर 'सही-गलत' विभिन्न संस्कृतियों की बात भी की जाती है। और इस आधार पर भी अनेकता की बात उठायी जाने की कोशिश की जाती है। कुछ ठहरे हुए लोग आर्य और द्रविड संस्कृतियों के नाम पर भी राजनीति करना चाहते हैं और कुछ हिन्दू और उसी से निकले सिख धर्म के नाम तक पर भी'। लेकिन यहाँ अधिक विस्तार में न जाकर यह सत्य स्वीकार करना होगा कि भारत में एक 'भारतीय संस्कृति' भी है जो सबसे ऊपर है। और इस संस्कृति का विस्तार वहाँ-वहाँ तक भी है जहाँ जहाँ तक प्रवासी भारतीय या भारत के मूलवंशी रहते हैं। और विदेशों में रह रहे भारतीय जब भारत की अखण्डता को लेकर भारत से बाहर भी चिन्तन मनन करते नज़र आते हैं तो भारतीय संस्कृति के अस्तित्व की बात सहज ही प्रमाणित हो जाती है। यह भारतीय संस्कृति है क्या? संक्षेप कहूँ तो इसकी पहचान और विषेशता 'अनेकता में एकता' है। और यह 'अनेकता में एकता' हमारी संस्कृति के उन उत्कृष्ट गुणों पर टिकी है जिनमें प्रमुख है: सहिष्णुता, उदारता, ग्रहणशीलता और समन्वयवादिता। बिखराव को समग्र करने और भिन्न को अभिन्न कर लेने की अद्भुत एवं विषिश्ट क्षमता भारतीय संस्कृति की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। कवि जयशंकर प्रसाद ने ठीक ही लिखा थाः

अरूण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

वस्तुतः भारत की जो मौलिक एकता है, उसकी संस्कृति में निहित जो समन्वय की विषेशता है वह ऊपरी विभिन्नता या अनेकता के मूल में सदैव बसी है। हमारा दश ्चौथी सदी ईसवी पूर्व से एकता के सूत्र में आबद्ध है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसी तथ्य की पुष्टि में लिखा था--

हेथाय आर्य हेथाय अनार्य
हेथाय द्रविड़ चीन,
षक हूण दल पठान मुगल
एक देहे होलो लीन।

भारत की संस्कृति अत्यंत प्राचीन है। अतः विचार नहीं बल्कि विचारों की अनेक श्रृंखलाएँ यहाँ वाटिका के अनेक फूलों की तरह सदा अस्तित्व में रही हैं। कितने ही धर्म ऐसे हैं जिनका यहाँ पालन-पोशण हुआ है। दुनिया के लगभग लगभग सभी धर्मों को यहाँ की भूमि ने गोद दी है। अतः हमारे राष्ट्र की यशोदा भूमि के रूप में निभायी जा रही भूमिका भी किसी जन्मदात्री से कम नहीं है। बड़ी बात यह है कि धर्मों, मत-मतान्तरों, आचारों-विचारों आदि की दृष्टि से जो सहज असमानता हमें दिखाई पड़ती है और कभी-कभी इस असमानता को बारूद बना देने वाली राष्ट्र-विरोधी शक्तियों के चलते जो तबाही नज़र आती है वह जल्दी ही हमारी संस्कृति के मूल सिद्धान्त 'समानता के भाव' से परास्त हो जाती है, उसके समक्ष घुटने टेकने को विवश हो जाती है। धर्म पर राजनीति करने वालों को मुँह की खानी पड़ती है। आवश्यकता इसी बात की है कि यह 'मूल सिद्धान्त' कभी तिरोहित न हो।

भौगोलिक दृष्टि से भी हमारा दश अनेक विविधताओं से भरा है। नदियाँ, पहाड़, समुद्र आदि हमारे राष्ट्र की भूमि को बाँटती हैं। लेकिन कुल मिलाकर, भौगोलिक दृष्टि से हमारा देष एक इकाई है। जिन भौगोलिक सीमाओं में हमारा राश्ट्र एक इकाई के रूप में दृढ़ता से बँधा है उसकी भी सदैव रक्षा करनी है। निवासी चाहे पूर्वोत्तर प्रदेश के हों या लक्षद्वीप तक के दक्षिण के हों, पहाड़ों के हों या जँगलों के हों, सब हमारे राश्ट्र के हैं, हमारे नागरिक हैं। विभिन्न जलवायु और प्रजातियों के आधार पर उपजने वाले भेदों को कफ़न उढ़ाते रहना है। हमारे राष्ट्र की सीमाओं के बाहर खड़े शत्रुओं से भी सदा सावधान रहना है। अर्थात् प्रयत्न करके, हमारी भौगोलिक विविधताओं को योजक शक्ति के रूप में ही बनाए रखना है। केवल सत्ता को महत्व देने वाले राष्ट्र को महज राजनीतिक इकाई मानते हैं और इसलिए अपनी प्रादेशिक सत्ता और क्षेत्रीय अधिकारों के प्रति सजग और सतर्क रहने, क्षेत्रीय उपादानों को सर्वप्रमुख सिद्ध कराने की चेश्टा भी किया करते हैं। ऐसे में विवाद का उपजना

स्वाभाविक है। राष्ट्र एक भावनात्मक इकाई भी है, ऐसा मानना ही चाहिए। यह ठीक है कि भारत अनेक प्रदेशों का गुच्छ है पर इस गुच्छ की सार्थकता एक संघ के रूप में है। संघ होने के कारण ही भारत एक राजनीतिक इकाई है और इस रूप में वह राज्यों के अन्तस्संबंधों के सूत्र का कार्य भी करता है।

हमारे राष्ट्र की एक बहुत बड़ी विशेषता जो उसे अन्य अधिकांष राष्ट्रों से अलग चरित्र प्रदान करती है, भाषायी समन्वय या भाषायी अनेकता में एकता है। भारत और उसकी भाषाओं के तथ्यात्मक परिदृश्य का अवलोकन तो थोड़ी देर बाद करेंगे लेकिन यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि बहुभाषी भारत के लिए कभी कभी भाषा-विवाद भी कष्टदायी बना दिया जाता है। यानी है नहीं पर स्वार्थी प्रवृत्तियों के चलते बना दिया जाता है। वस्तुतः, मेरी यह स्पष्ट मान्यता है कि भाषा का संकट हमेशा असहज होता है, सहज रूप में वह हो ही नहीं सकता। भाषा माँ की तरह है। और कोई भी माँ अपने सहज रूप में 'संकट' की स्थिति पैदा कर ही नहीं सकती। वह अपनी सहज प्रक्रिया में संघर्ष, टकराहट या ऐसी ही किसी नकारात्मक प्रवृत्ति को प्रश्रय दे ही नहीं सकती। अतः भाषा को लेकर 'संकट' पैदा करने वाले व्यक्ति असहज ही कहे जाएँगे। मनुष्य अपने-अपने संदर्भ में अपनी माँ को (और इसी आधार पर अपनी भाषा को) प्यार करता है, यह सहज है, किसी भी प्राणी की तरह। लेकिन अपनी माँ (भाषा) से सहज प्यार करने के अनुभव से सम्पन्न मनुष्य दूसरे की माँ (भाषा) से असहज होकर ही घृणा कर सकता है। यह 'असहजता' मनुष्य में क्यों आती है इसकी गहरी जाँच-पड़ताल की जा सकती है। यह सिद्ध है कि भारत में भाषाओं की लड़ाई के पीछे, जो आज भी आंशिक रूप में ही सही एक हक़ीक़त है, स्वयं भाषाओं का हाथ नहीं है बल्कि कुछ और तत्वों का है जो विघटनकारी हैं, भारत की लम्बी और गहरी समन्वयवादी परम्परा के शत्रु हैं, राष्ट्रद्रोही हैं अथवा संकीर्ण हैं। ऐसे तत्वों की पहचान करते-कराते रहना अनिवार्य है। वस्तुतः भारत की अनेक भाषाओं को भाषा-परिवार के रूप में देखा जाना चाहिए और समन्वयवादी भाव से उन्हें एक पारिवारिक व्यवस्था की तहत स्वीकार करना चाहिए। यह सच्चाई बार-बार स्वीकार करनी होगी कि वे भारत की हैं और उन्हें एक पारिवारिक व्यवस्था में रहना है। इस भाषा-परिवार को आघात पहुँचाने वालों को ठीक से यह सच्चाई समझनी होगी। अच्छी बात यह है इस सच्चाई को न मानने वाले अकेले पड़ते जा रहे हैं। अब यह बात समझ में आ चली है कि भाषायी समन्वय राष्ट्र को मजबूत बनाता है। अतः भाषा का सच्चा काम लोगों को जोड़ने का होता है तोड़ने का नहीं। एक बात और समझ लेनी चाहिए कि एक अनुपम उपलब्धि के रूप में मनुष्य की भाषा, जिसमें मनुष्य सोचता भी है और अभिव्यक्त भी करता है, बहुत खतरनाक हथियार के रूप में भी उपयोग में लायी जा सकती है। पहले 'तोलो फिर बोलो' की उपेक्षा कभी नहीं की जा सकती। अतः हमारे देश के संदर्भ में भाषायी समन्वय सर्वाधिक महत्वपूर्ण है यदि हम राष्ट्र को टूटने से बचाना चाहते हैं। हाँ, यह कहकर मैं सोच की पूर्वाग्रही और नकारात्मक मानसिकता बनाने वाली स्वार्थी एवं

राष्ट्र विरोध शक्तियों की अवहेलना भी नहीं करना चाहूँगा। प्रसिद्ध भाषाविद् प्रो. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने ठीक ही लिखा है कि 'भाषा अगर एक ओर राष्ट्रीय एकीकरण का एक महत्वपूर्ण उपादान बन सकती है वहीं दूसरी ओर वह समाज में तनाव, द्वंद्व, विद्वेश और विघटन की प्रवृत्ति को भी जन्म दे सकती है।' यह 'दूसरी ओर' वाली बात, फिर दोहरा दूँ, भाषा की सहज प्रकृति नहीं है बल्कि उसे उपयोग में लाने वालों की विकृत मानसिकता का नतीज़ा है। वस्तुतः भाषा जातियों, उपजातियों, धर्मों, सम्प्रदायों आदि से ऊपर होती है जैसे कि राष्ट्र होता है। राष्ट्र तो भाषा की विभिन्नता के भी ऊपर होता है। इस कथन की सत्यता एक उदाहरण से प्रमाणित की जा सकती है। क्या दो मनुष्यों या दो राष्ट्रों का धर्म एक होने से उनकी भाषा भी एक ही होनी चाहिए? यदि इसका उत्तर हाँ है तब तो अफ़गानिस्तान, अरब, ईरान, तुर्की, पाकिस्तान, बंगलादेश जैसे देशों की भाषा एक ही होनी चाहिए थी। संक्षेप में कहूँ तो भाषा का वर्चस्व अपनी स्वायत्ता का आनन्द भोगता है। भाषा को किसी भी आधार पर दबाया नहीं जा सकता। वह उसे अर्जित करने वाले और उपयोग में लाने वाले से कभी बेवफ़ाई नहीं करती। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि संदर्भ चाहे विश्व की भाषा ओं का हो या भारत की भाषाओं का, भाषा यी समन्वय ही विश्व के रूप में मनुष्य समाज का और भारत के रूप में भी भारतीय समाज का एक सहज सत्य है जिसे नकारने वाले अधिक दूर तक नकार नहीं सकते। समन्वय या एक शब्द जो भारत की संस्कृति के लिए प्रायः उपयोग में लाया जाता है - सामासिकता, इसका अर्थ विभिन्न भाषाओं या विभिन्न संस्कृतियों का एक दूसरे में विलीन होना या करना नहीं है। सही अर्थ है, इनके आपस के सह-अस्तित्व के यथार्थ को स्वीकार करना। ज़रा उदार होकर सोचें और थोड़े पूर्वाग्रह भी छोड़ दें तो हम पाएँगें कि भाषा , संस्कृति से भी भिन्न हो सकती है। वस्तुतः भाशा संस्कृति की संवाहिका है और इसलिए उसकी पहचान भी कही जाती है। लेकिन संस्कृति जैसे अपने रूप को परिवर्तित करते रहने में सक्षम है, मूल आधारों पर टिकी रहकर भी, वैसे ही भाषा भी अपने स्वरूप को बदलने में सक्षम होती है।

भाषा का महत्व

मनुष्य के लिए भाषा का महत्व सिद्ध है। मनुष्य और मनुष्य के बीच, अपने वाचिक, लिखित आदि हर रूप में वह सशक्त और सार्थक संबंध स्थापित करने वाला अनिवार्य उपादान है। कहा जाता है कि यदि किसी देश को गुलाम बनाना हो, तो उसकी भाषा छीन लीजिए, वह अधिक दिनों तक आजाद नहीं रह सकेगा। निःसंदेह अपनी भाषा की स्वाधीनता अपनी स्वाधीनता की सूचक होती है। भाषा का महत्व सभी जानते हैं अतः इस दिशा में अधिक न जाकर आचार्य दण्डी का यह कहा उद्धृत करना चाहूँगा -- 'यह संपूर्ण त्रैलोक्य सघन अंधकार में निमग्न हो जाता, यदि सृष्टि के आरम्भ में शब्द ज्योति (भाषा) का प्रकाश न हुआ होता।' भारत के संदर्भ में इस मान्यता का उल्लेख करना ठीक रहेगा कि अपने देश में और विशेष रूप से इसके मध्य भाग में जो भाशाएँ बोली जाती रही हैं उन्हें भाषा नाम से पुकारा गया है। भाशा के साथ हिन्दी शब्द का योग बाद की

बात है। 10वीं सदी के आसपास आधुनिक भारतीय भाषा एँ उदित होती हैं। तभी से हिन्दी भाषा का अस्तित्व भी माना जाता है। उसके बाद अनेक कारणों और राष्ट्रीय ज़रूरतों के रहते हिन्दी अपना अखिल भारतीय स्वरूप ग्रहण करती चली गई। तब की अंग्रेजी हुकूमत ने अपने स्वार्थों के लिए हिन्दी के अखिल भारतीय स्वरूप और उसकी मान्यता को आघात पहुँचाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। मीर के समय उर्दू कवि तक अपनी भाषा को बेहिचक हिन्दी कहते थे। साहित्य के धरातल पर चाहे भक्ति आन्दोलन रहा हो या प्रगतिशील आन्दोलन हिन्दी-उर्दू का अलगाववादी मसला कोई अर्थ नहीं रखता था। यह सोच कि धर्म के नाम पर मुसलमानों की भाषा उर्दू है और हिन्दुओं की हिन्दी, वस्तुतः हमें पराधीन रखने वाले अंग्रेज़ों की लूट और शोषण का परिणाम थी। फूट और अलगाव का बीज 1798 ई0 में जाॅन गिलक्राइस्ट के इस कथन में स्पष्ट देखा जा सकता हैः 'हिन्दवी को मैंने षुद्ध हिन्दुओं का चीज़ माना है। इसलिए मैंने लगातार उसका प्रयोग भारत की प्राचीन भाशा के लिए किया है जो मुसलमानी आक्रमण के पहले यहाँ प्रचलित थी।' उर्दू के लिए इन्होंने हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग किया और उसका मूलाधार हिन्दवी को माना। गड़बड़ यह की गई कि भाषा को धर्म के साथ जोड़ दिया गया। एक ही भाषा की दो शैलियों को हिन्दुओं की भाषा हिन्दी और इस्लाम मानने वालों की भाषा उर्दू के रूप में बाँट कर ज़हर घोलने का प्रयत्न किया गया।'

यद्यपि मातृभाषा के प्रति सहज एवं निष्ठापूर्ण लगाव तथा अन्य भाषा ओं (अर्थात् इतर मनुश्य की मातृभाषा ओं) के प्रति सहज स्नेह एवं आदर युक्त व्यवहार की बात ऊपर कही जा चुकी है तो भी यहाँ राष्ट्रभाषा के संदर्भ में यह बताना आवश्यक है कि वह राष्ट्रीय भावना की सूचक होती है। भीतरी तौर पर उसमें भाषा को एकताबद्ध करने की प्रबल प्रवृत्ति होनी चाहिए और बाह्य तौर पर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्र को विशिष्ट सिद्ध करने की प्रवृत्ति। अर्थात् राष्ट्रभाषा का आदर्श आभ्यंतर एकता और बाह्य विशिष्टता है। राष्ट्रभाषा का काम विभेद और अंतर सम्बन्धी विवादों का समाधान करना होता है। भारत जैसे बहुभाषी देशों में राष्ट्रभाषा को संपर्क भाशा और राजभाषा के रूप में भी सक्षम होना होता है। मातृभाषा तो वह होती ही है। सूत्र रूप में कहें तो भारत जैसे बहुभाषी राष्ट्रों में किसी भी मातृभाषा के अन्य मातृभाषाओं के रहते राष्ट्रभाषा बनने का संदर्भ उठापटक, जीत-हार आदि जैसी पीड़ाजनक स्थितियों का न होकर स्पर्धा एवं स्वीकृति की अवस्थाओं का होता है, सत्य और यथार्थ को मज़बूर या बाध्य होकर नहीं, सहर्श और सम्मान की भावना से स्वीकार करने का होता है।

भारत और भाषाएँ: एक तथ्यात्मक परिदृश्य: बहुभाषी राष्ट्र

यह सर्वमान्य सत्य है कि भारत एक बहुभाषी देश है और यहाँ भारोपीय, द्रविड़, मुंडा या अस्ट्रिक एवं तिब्बती-चीनी चार भाषा परिवारों की 1650 के ऊपर भाषाएँ बोली जाती हैं। एक मत के अनुसार 1455

भाषाएँ ऐसी हैं जिन्हें 10 हजार से भी कम लोग बोलते हैं। शेष 197 भाषाओं में से, संविधान के निर्माताओं ने जिन 14 भाषाओं को प्रधान मानते हुए अष्टम सूची में रखा था, वे थीं -

हिन्दी, संस्कृत, मलयालम, मराठी, बंगला, पंजाबी, तेलुगु, तमिल, गुजराती, कश्मीरी, कन्नड़, उर्दू, उड़िया और असमिया। इन भाषाओं को बोलने वालों की संख्या कुल जनसंख्या का 98 प्रतिशत थी। बाद में इन 14 भाशाओं में सिंधी, नेपाली, कोंकणी तथा मणिपुरी को भी जोड़ दिया गया और संख्या 18 हो गई। बोलने वालों का अब प्रतिशत 99.92 हो गया। हाल ही में बोडो और संथाली को भी जोड़ दिया गया है और अब संख्या 20 पर पहुँच गई है।

भारत के इस बहुसंख्यक भाषायी परिदृश्य का बोलने वालों की जनसंख्या और भौगोलिक व्यक्ति की दृष्टि से जब विचार किया गया तो पता चला कि हिन्दी केन्द्रीय महत्व की भाशा है क्योंकि यह देष के सबसे बड़े भू-भाग की भाशा है। यह ग्यारह प्रदेषों - उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार, हिमाचल, हरियाणा, छत्तीसगढ़, उत्तरांचल, झारखंड, दिल्ली तथा अंडमान निकोबार द्वीप समूह की प्रधान भाषा है और इसके बोलने वालों की संख्या देष की जनसंख्या का 42.88 प्रतिशत है। यही कारण है कि देष की भाशाओं में, कुछ छिटपुट भाषेतर विवाद के बावजूद, हिन्दी को प्रतिनिधि भाषा माना गया है।

हिन्दी

हिन्दी का केन्द्रीय महत्व उसके राष्ट्रभाषा, राजभाषा और संपर्क भाषा के रूप में सिद्ध हो चुका है। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि व्यापार, जनसंचार तथा राजनीति की दृष्टि से हिन्दी ने संपर्क भाषा का पद बखूबी पा लिया है। हिन्दी का महत्व उसके नाम से भी सिद्ध है। हिन्दी को छोड़कर अन्य भाषाएँ क्षेत्रीय नामों से जानी जाती हैं, जैसे पंजाबी पंजाब की भाषा, मराठी महाराष्ट्र की, बंगला बंगाल की, असमिया असम की, तमिल तमिलनाडु की। हिन्दी, हिंद की या हिन्दुस्तान की भाषा कही गई है।

भारत की सभी भाषाओं में से हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा के योग्य पाया गया। महात्मा गाँधी ने तो इसे यह दर्जा दिया ही, देश विदेश के अनेकानेक विद्वानों ने भी इस सत्य को स्वीकार किया है। ऐसे विद्वानों, शिक्षाविदों, चिन्तकों एवं समाज सेवियों की एक लम्बी सूची है। यह विडम्बना ही है कि इस सब के बावजूद हमें बार-बार हिन्दी को राष्ट्रभाषा सिद्ध करने की बहस करनी पड़ती है और वे ही तमाम बातें दोहरानी पड़ती हैं जो सबकी जानकारी में है। हिन्दी राष्ट्रभाषा है, राजभाषा है, सम्पर्क भाषा है इस सच्चाई को न जाने कब तक सच सिद्ध करना होगा। न जाने कब तक औपचारिक/अनौपचारिक ढंग से हिन्दी दिवस या पखवाड़ा मना मना कर एक

सत्य को सत्य मनवाने की कवायद करनी होगी। न जाने हिन्दी सम्बन्धी इस सत्य को हम कब तक पक्ष-प्रतिपक्ष के द्वन्द्व में फँसाए रखना चाहेंगे। जो निर्णीत है उसे बार-बार खोलने से क्या लाभ है। लेकिन इतना भर कह कर क्या हम बहस से पल्ला झाड़ सकते हैं। उत्तर तो देना ही होगा। बल्कि कहूँ कि हिन्दी जिसे हम राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करते हुए भारत की राष्ट्रीय अखण्डता का हेतु भी मानते हैं, जब किसी प्रश्न के घेरे में आती है तो उत्तर से पूर्व प्रश्न उठने के कारणों में जाना होगा। क्योंकि ऐसे प्रश्न भारतीय अखण्डता के लिए खतरों का कारण बन सकते हैं। इसी संदर्भ में हमें भाषायी समन्वय के गहरे एवं प्रभावशाली अर्थ को भी समझने और कार्यान्वित करने की आवश्यकता पर बल देना होगा। हिन्दी और भारतीय भाषाओं के अन्तःसंबंधों की वास्तविकता को एक बार फिर पहचानना होगा। और समय समय पर परिस्थितियोंवश अन्तःसंबंधों को लेकर उठने वाले विरोधाभासों को समाप्त करना होगा। साथ ही इन संबंधों को निरन्तर सशक्त और प्रगाढ़ बनाना होगा। समवेत रूप में। उन तमाम शंकाओं, भ्रमों और संकीर्णताओं से उभरे या उभारे गए हथियारों को नष्ट करना होगा जो भाषायी समन्वय और भारतीय भाषाओं के अंतः संबंधों को विकृत कर भारत की राष्ट्रीय अखण्डता को समाप्त करना चाहती है। लेकिन यह तभी संभव होगा जब हम निर्द्वन्द्व होकर यह सत्य स्वीकार कर लें कि भारत की राष्ट्रभाषा एवं राजभाषा का विवाद यदि है भी तो उसे भारतीय भाषाओं के आपसी तालमेल से ही निपटाना है। अत्यंत खेद की बात है कि 'पाश्चात्य शिक्षा के वातावरण में पला और स्वतंत्रतापूर्व की विदेशी प्रशासन व्यवस्था का संस्कारग्रस्त व्यक्तियों का एक ऐसा वर्ग भी है जो राष्ट्रभाषा या राजभाषा की समस्या को हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं के संबंधों में न ढूँढकर हिन्दी और अंग्रेजी की प्रतिद्वंद्विता के रूप में उभारना चाहता है।' (प्रो. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव)। दुहाई दी जाती है अंतर्राष्ट्रीय संबंध, वैज्ञानिक उपलब्धियों और विकसित भाषा आदि मानदण्डों की। ऐसे लोग यह कहने से भी नहीं चूकते कि राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से राष्ट्र की अखण्डता के लिए यह जरूरी नहीं कि उसकी राजभाषा, उस देश की ही कोई भाषा हो। वे उदाहरण के लिए एकाधिक देशों के नाम भी गिना देते हैं। ऐसे लोग न तो हिन्दी के यथार्थ से परिचित होते हैं और न ही विश्व भर द्वारा स्वीकृत हिन्दी भाषा की क्षमताओं से और उसके विश्व की एक समृद्ध भाषा के रूप से। इस सच्चाई से क्या हम बहुत दिनों तक मुँह मोड़ सकते हैं कि आज 'विश्वभाषा' (अर्थात् विश्व की वे भाषाएँ जो अधिकतर देशों में लिखी, बोली, सुनी और समझी जाती हैं) के रूप में भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी अपना पद पाने के मार्ग पर अग्रसित है। मैंने कहा था कि हमें हिन्दी के यथार्थ को समझना ही होगा। कुछ ही शब्दों में समेट कर कहना चाहूँ तो कहूँगा कि भारत की सभी मातृभाषाओं में हिन्दी एक बड़े भू भाग की मातृभाषा है, विश्व को भी ध्यान में रखें तो वह और भी बड़े भू भाग की भाषा हो जाती है, यह व्यापार और संपर्क की भी भाषा है। अपने अनुभव से कहूँ तो जब मैं कोरिया में था और वहाँ की कम्पनियाँ भारत में आने की इच्छुक थीं तो उन्होंने व्यवसाय बढ़ाने की दृष्टि से भारत भेजने से पूर्व अपने कोरियाई प्रबन्धकों को हिन्दी सिखायी। इसी प्रकार मेरे कोरियाई हिन्दी के विद्यार्थियों ने बताया कि भारत का भ्रमण करते हुए हिन्दीतर संस्थानों पर भी जब उन्होंने हिन्दी में बात की तो न केवल उन्हें उत्तर मिले बल्कि स्नेह-सम्मान भी मिला। हमें यह नहीं भूलना चाहिए संस्कृत की यह सबसे बड़ी

पुत्री एक समृद्ध भाषिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक परम्परा की वाहिनी है। वह संस्था की उत्तराधिकारी है। भारतीय तथा विदेशी भाषाओं से असंख्य शब्दों को आत्मसात् कर अर्थात् अपनी प्रकृति में ढ़ालकर इसने खुद को समृद्ध किया है। सच तो यह है कि हिन्दी ही एक हजार वर्षों से देश की सामासिक संस्कृति की वाहिका रही है। हिन्दी के उन्नयन का कार्य भारत के हर कोने में हुआ है। भारत के हर कोने के बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों और सामान्य लोगों ने उसे, उसके राष्ट्रीय गुणों के कारण अपनाया है। अगर हम भूले नहीं हैं तो स्वाधीनता आन्दोलन की भाषा भी हिन्दी ही थी। इसके माध्यम से सारा पराधीन भारत अखण्ड हुआ था। लेकिन मैं यह सब क्यों बता रहा हूँ। क्या आप यह सब नहीं जानते? बल्कि मुझसे ज़्यादा जानते हैं। मुझे तो लग रहा है कि मैं छोटे मुँह बड़ी बात कर रहा हूँ।

भाषायी समन्वय और हिन्दी

हिन्दी भारत की केन्द्रीय भाषा है अतः राष्ट्रभाषा भी है। यह सत्य है। लेकिन इस सत्य को जो मानने को तैयार नहीं हैं उनसे हम कैसे निपटें। क्या धौंस से या बल से? आप मुझे ग़लत कह सकते हैं लेकिन मुझे यह रास्ता एकदम गलत, अराजक और बलात्कारी लगता है। मुझे तो अपने देश में गधों के गलों में 'मैं अंग्रेजी बोलता हूँ, मैं गधा हूँ' की पट्टियाँ डाल कर जुलूस निकालने वाले तथाकथित हिन्दी प्रेमियों के विवेक पर भी तरस ही आता है। मैं दोहरा दूँ कि भाषा के रूप में कोई भाषा न बड़ी है न छोटी, न अपनी है न परायी। पहले दिया जा चुका उदाहरण दूँ तो कोई भी माँ न छोटी होती है, न बड़ी, न अपनी होती है न परायी। माँ माँ होती है और भाषा भाषा। लेकिन हम मनुष्य हैं, कोरे विचार नहीं हैं, भाव भी हैं। हममें भावना भी है। इसीलिए हमें अपनी मातृभाषा, अपनी राष्ट्रभाषा से सहज भावनात्मक प्रेम होता है। माँएँ खड़ी हों तो हर बच्चा दौड़कर अपनी अपनी माँ को ही जा पकड़ता है। यही बात भाषाओं के संदर्भ में भी लागू होती है। इसका सीधा अर्थ यह है कि संदर्भ विश्व का हो या अपने बहुभाषी देश का हमें सभी भाषाओं को समान आदर देने की सही आदत डालनी ही होगी। उनके तालमेल में ही, उनके सह अस्तित्व में ही हमारी भलाई है, उसे समझना होगा। अपनी अपनी भाषा को सहज रूप में अपनाते और समृद्ध करते हुए, दूसरों की भाषाओं को कमतर दिखाने की गलत प्रवृत्ति से बचना होगा। भारत के संदर्भ में तो यह और भी ज़्यादा ज़रूरी है। भाषाएँ आपस में पेच लड़ाने की वस्तुएँ नहीं होतीं, बल्कि उनकी भीतरी समानताओं को पहचानते हुए उनमें तालमेल, पारस्परिक सद्भाव जगाने के लिए होती है। डॉ.. विमलेश कांति वर्मा का मानना है कि 'भारत की अधिकांश भाषाएँ चाहे, वे किसी भी भाषा परिवार से संबंधित हों, उनमें अद्‌भुत समानता है। 'अपने लेख' भारतीय भाषाएँ और हिन्दी में उन्होंने हिन्दी और द्रविड़ परिवार की भाषा तमिल तक में कई समानताएँ दर्शायी हैं। वस्तुतः ध्वन्यात्मक व्यवस्था, शब्द स्तर, पारिभाषिक शब्दावली, वाक्य संरचना, पद व्यवस्था आदि अनेक आधारों पर अपनी अपनी विशिष्टाओं के साथ सभी भारतीय भाषाओं में अनेक समानताएँ भी हैं। भारतीय भाषाओं की मूलभूत एकता का कारण देश की

संस्कृति की एकता है। एक समय था जब संस्कृत ने पूरे देश को अखण्डता प्रदान की थी और केन्द्रीय भाषा के पद पर आसीन हुई थी। बाद में इस दायित्व का निर्वाह पाली और प्राकृत भाषाओं ने किया। आज यह कार्यभार हिन्दी पर है। तब भी ऐसा क्यों है कि राष्ट्रीय अखण्डता को प्रदान करने में समर्थ 'हिन्दी' की ओर उंगली उठ ही जाती है। वस्तुतः इसके लिए कुछ भ्रम, भय, विकृत सोच और क्षेत्रीय राजनीति आदि उत्तरदायी हैं। भाषाविद् प्रो0 रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव के अनुसार, 'स्थानीय सुख-समृद्धि की लालसा और क्षेत्रीय स्तर पर आर्थिक सुरक्षा की भावना उनकी अपनी (प्रादेशिक भाषाओं की अपनी) अस्मिता में प्राण फूंकती हैं। इसलिए जब कभी भी अखिल भारतीय स्तर पर राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय भाषा के रूप में किसी एक भाषा (भले ही बृहत्तर भागों में समझी जाने वाली और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के समय सर्वाधिक प्रयोग में आने वाली हिन्दी भाषा ही क्यों न हो) को मान्यता देने की बात उठी है, अन्य भाषायी समाज ने इसे शंकालुभाव से देखा है। दूसरी भावना यह भी सामने उभरी कि भारत अगर एक राष्ट्र है तो जिस प्रकार 'हिन्दी भाषायी समाज' उसका एक अंग है, उसी प्रकार हम भी उसके एक अंग हैं, फिर एक अंग की भाषा पूरे राष्ट्र' का प्रतीक बन 'राष्ट्रभाषा कैसे और क्यों बने?' तर्क यह भी दिया जाता है कि भारत में जैसे अनेक धर्म हैं, विभिन्न खान-पान हैं, रीति-रिवाज हैं तब अनेक राष्ट्रभाषाएं क्यों नहीं हो सकतीं। इन सब तर्कों के उत्तर में प्रश्न किया जा सकता है कि क्या हर प्रदेश का अलग-अलग राष्ट्रपति होना ठीक रहेगा? क्या अनेक राष्ट्रीय ध्वज किसी एक राष्ट्र को एक रख सकते हैं? और क्या अलग अलग भाषाओं के बीच कड़ी के रूप में कोई भाषा अवष्य नहीं होनी चाहिए? ध्यान यह भी रखना होगा हमारा देश महज दो-तीन भाषाओं वाला देश नहीं है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की निम्न पंक्तियों में भी हमें एक राष्ट्रभाषा के महत्व का पता चलता हैः

एक भाषा, एक जीव, इक मति के सब लोग
तबै बनत है सबन सों, मिटत मूढ़ता सोग।

वस्तुतः जब तक हम भारत में राष्ट्रीय अखण्डता के भाषायी समन्वय के संदर्भ को ठीक से नहीं अपनाएँगें यानी निश्छल और उदार होकर अपनेपन के भाव के साथ नहीं अपनाएँगें,राष्ट्रभाषा हिन्दी वाले मसले पर बहसबाजी होती रहेगी। हमें इस सत्य को स्वीकार कर लेना चाहिए कि हिन्दी की समृद्धि में हिन्दी की समृद्धि है। अब हमारी चिन्ता इस सत्य को स्वरूप देने और उसे प्रगाढ़ करने की होनी चाहिए। और इसके लिए हमें बाकी तमाम बहस बाजी छोड़कर तालमेल बैठाने की मंषा से समानता के भाव के साथ हिन्दी और षेश भारतीय भाषाओं के अंतःसंबंधों को अधिक प्रगाढ़ और प्रबल बनाने के रास्ते खोजने होंगे और खोजे गए रास्तों को सुदृढ़ और सार्थक करना होगा। आगे ऐसे रास्तों पर संक्षिप्त दृष्टि डालने का प्रयास किया जाएगा।

हिन्दी और शेष भारतीय भाषाओं के अंतः संबंध

आज के भारत में विशेषकर नई पीढ़ी बहुत समर्थ और जागरूक होने के बावजूद, अनेक कारणोंवश (जिनके विस्तार में यहाँ जाने की आवश्यकता नही है), प्रायः अपनी संस्कृति, अपनी परम्परा, अपनी भाषाओं, अपने ग्रंथों आदि के मूल उत्स और प्रगति इतिहास में जाने से बचती है। वह केवल तैयार माल में ही आस्था रखती है। मैं इसे विडम्बना ही कहूँगा। यह तो वैज्ञानिक दृष्टि भी नहीं है। मूल सिद्धान्त को जाने बिना अगला और उससे अगला और उससे अगला कदम बढ़ाया ही नहीं जा सकता। भाषा के संदर्भ में भी यही सत्य है। बात दकियानूसी लग सकती है लेकिन अपने सहित मैं सबको सुझाव देना चाहूँगा कि यदि भाषायी समन्वय के संदर्भ में, भारतीय राष्ट्रीय अखण्डता की रक्षा चाहते हैं तो हमें कदाचित संस्कृत भाषा और अपने प्राचीन ग्रंथों की ओर भी लौटना चाहिए। मैं समझता हूँ कि हमें इस मत को मान लेना चाहिए कि हिन्दी को सबल और भारत का सच्चा प्रतिनिधित्व करने के लिए भारतीय सामासिक संस्कृति की अभिव्यक्ति के माध्यम बनने की योग्यता निरन्तर अर्जित करनी होगी। इसके लिए उसे शेष भारतीय भाषाओं के प्रयुक्त रूप, शैली और पदों को आत्मसात करना होगा शब्द भण्डार को संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं से समृद्ध करना होगा। हिन्दी को, हिन्दी के साहित्य को सम्पूर्ण भारत की छवि को प्रतिबिंबित करना होगा। हिन्दी के माध्यम से दुनिया को सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य और ज्ञान-विज्ञान आदि को उपलब्ध कराना होगा। प्रांतीय भाषाओं की फिल्मों को हिन्दी में अनूदित करना होगा। इससे, सभी के लिए, भारतीय भाषाओं के अवदान को, मात्र हिन्दी के माध्यम से जानने समझने का अवसर प्रदान होगा। मसलन भारतीय भाषाओं का साहित्य हिन्दी के माध्यम से जब भारतीयों और विदेशियों के लिए भी उपलब्ध होगा तो दोहरा लाभ होगा। एक तो तमाम भाषाओं को सामान्यतः सीखने के स्थान पर केवल हिन्दी सीखने से ही काम चल जाएगा, दूसरे भारतीय भाषा ही होने के कारण उच्च भारतीय भाषाओं से हिन्दी में सटीक अनुवाद करना भी सरल होगा। दो भारतीय भाषाओं के बीच अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भी छुटकारा मिल जाएगा। इसी प्रकार हिन्दी के मानकीकरण और उसके पारिभाषिक शब्द भण्डार पर और ध्यान देना होगा। साथ ही हिन्दी के बहते नीर वाले रूप की भी उपेक्षा नहीं करनी होगी।

हिन्दी भाषा के शिक्षण को अधिक दिलचस्प ढंग से करना होगा। केवल पारम्परिक तरीकों से नहीं। अभी हाल ही में हिन्दी शिक्षण के लिए भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद् ने 'ऋषि' नामक सॉफ्टवेयर निकाला है। वह इस दिशा में उपयोगी सिद्ध होगा। अनेक वेबसाइट भी हिन्दी शिक्षण का कार्य कर रहे हैं। उनसे लाभ पहुँचेगा। आज, कम से कम भारत में, टेलीविज़न के हिन्दी चैनलों के कारण, रोज़गार की दृष्टि से भी हिन्दी भाषा का महत्व काफ़ी बढ़ गया है। इससे हिन्दी को काफ़ी बढ़ावा मिल रहा है।

हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए भी हमें अपने पूर्वाग्रही तरीके (यानी हिन्दी उत्तम है, हिन्दी और भाषाओं की अपेक्षा महत्वपूर्ण है, अन्य भाषाएँ हिन्दी की तुलना में हेय और कमज़ोर हैं, ऐसी अभिव्यक्तियों से

भरे तरीके) छोड़कर सकारात्मक ढंग से, अन्य भाषाओं को साथ लेकर चलते हुए, समन्वयवादी भावना के साथ हिन्दी का प्रचार प्रसार करना होगा। हिन्दी का प्रचार-प्रसार किसी भी सूरत में किसी को चिढ़ाने के लिए नहीं होना चाहिए।

लेखन और प्रकाशन की दृष्टि से भी हमें हिन्दी को अभी और अधिक विस्तृत और समृद्ध करना होगा। हिन्दी के पाठक, हिन्दी में प्रकाशित पुस्तकों के ग्राहकों में अभूतपूर्व वृद्धि करनी होगी। और भी बहुत कुछ करना होगा।

अंत में मैं भारत की वर्तमान भाषाओं की लिपियों और देवनागरी का प्रश्न भी उठाना चाहूँगा यद्यपि यह प्रश्न इतना नया भी नहीं है। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि देवनागरी एक ऐसी लिपि है जो दुनिया के किसी भी भाषा के शब्द को लिपिबद्ध करने और उच्चारित करने की क्षमता रखती है। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की पत्रिका 'भाषा' हिन्दी सहित सभी भारतीय भाषाओं को देवनागरी में प्रकाशित करने का प्रयोग करती है। सच मानिए देवनागरी में होने के कारण अनेक भारतीय भाषाओं की रचनाएँ काफ़ी हद तक समझ में आ जाती हैं। सोचना होगा कि क्या हम देवनागरी में राष्ट्रीय लिपि होने की संभावनाएँ पहचान सकते हैं? हमें आज गहरे से यह भी सोचना चाहिए कि भाषायी एवं राष्ट्रीय एकता के लिए देवनागरी भी एक सम्बल हो सकती है। गाँधी, तिलक आदि सभी महापुरूषों ने भारत की तमाम भाषाओं के लिए एक ही लिपि को लाभकारी मानते हुए देवनागरी का समर्थन किया था। राजर्शि पुरूषोत्तमदास टंडन ने माना था कि 'आज देवनागरी लिपि ही हम सब 14 भाषाओं के बोलने वालों को न केवल निकट ला सकती है बल्कि एक दृढ़ सूत्र में बाँध देगी। मैं इस बिन्दु को यहीं छोड़ना चाहूँगा क्योंकि यह अपने आप में एक पूरा विषय है जिस पर लम्बा चिन्तन और विवेचन अपेक्षित है।

और अब सार रूप में अपनी बात लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के इस कथन के साथ समाप्त करना चाहूँगा --

"सबसे पहली और महत्वपूर्ण बात, जिसका हमें ध्यान रखना है, यह है कि यह आन्दोलन उत्तर भारत में केवल एक सर्वमान्य लिपि के प्रचार के लिए नहीं है। यह तो उस बृहत्तर आन्दोलन का एक अंग है, जिसे मैं राष्ट्रीय आन्दोलन कहूँगा और जिसका उद्देश्य समस्त भारतवर्ष के लिए एक राश्ट्रीय भाषा की स्थापना करना है, क्योंकि सबके लिए समान भाषा राष्ट्रीययता का महत्वपूर्ण अंग है।"
आग्रह इतना भर है कि उक्त कथन के कथ्य पर ही नहीं बल्कि कथन के पीछे की दृष्टि पर भी ध्यान दिया जाए।

****